प्रेम वाहिनी

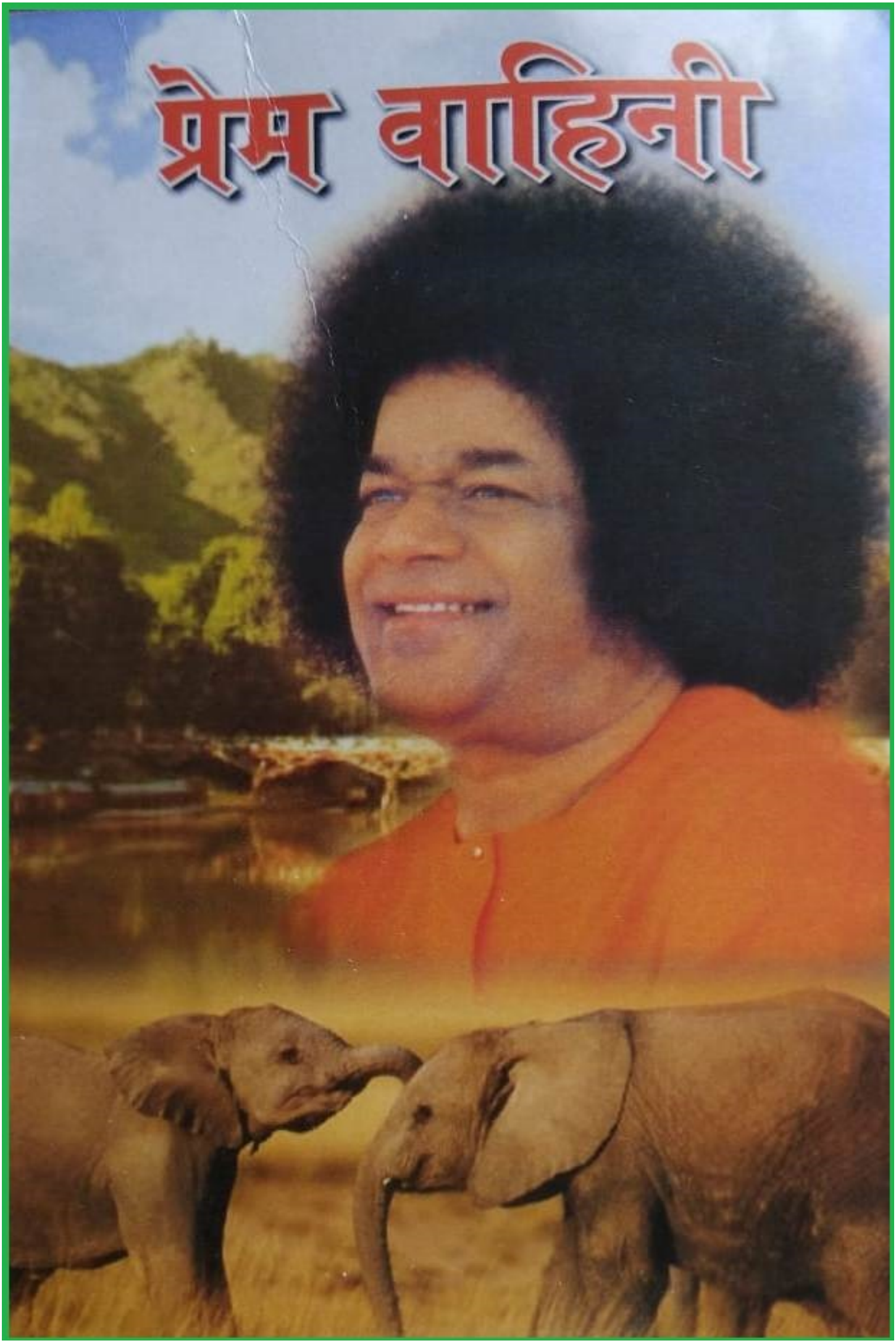

१८

भक्ति अंकुरण के बीज

भक्त और भगवान् की मनोवृत्ति ही भक्ति का बीज होता है। सर्वप्रथम भगवान् की विशेषताओं के कारण भक्त का मन आकर्षित होता है वह अपने लिए इन्हीं विशेषताओं को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इसी को साधना कहते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में पुजारी और पूज्य में पूरा अन्तर होता है, परन्तु जैसे-जैसे साधना आगे बढ़ती जाती है, यह भावना घटती जायेगी और जब लक्ष्य प्राप्ति होती है, फिर तो सभी भेद-भाव पूर्णतया अदृश्य हो जाता है। साधक अपनी साधना द्वारा, जिसे अपनी आराधना का लक्ष्य ठहरा लेता है, प्रेम करता है और प्राप्त करना चाहता है, उसे यह दृढ़ निश्चय होना चाहिए कि जीवात्मा, परमात्मा है। साधक को केवल एक इच्छा रखनी चाहिए कि वह भगवान् का साक्षात्कार पावे। मन में किसी अन्य इच्छा के लिए स्थान ही न होवे। इसीलिए तो कुन्तीदेवी ने भगवान् कृष्ण से यह प्रार्थना की थी "हे जगद्गुरु ! हम पर सदा कष्ट और विपत्तियाँ रहें जिससे आपके दर्शन प्राप्त होते रहें, वह दर्शन जिससे पुनर्जन्म नहीं होता है।"

जो भक्त उस सर्वेश्वर की कामना करता है और उसे प्राप्त करना चाहता है उसे ऐसी मनोवृत्ति रखनी चाहिए। तब दुःख-सुख को भुलाकर, चिन्ता और संतोष की परवाह न करके दृढ़ता से साधना में लगा रहेगा। उसे विघ्न बाधांयें भी अपने ध्येय से विचलित न कर सकेंगी, वास्तविक सत्य को जानकर वह पूर्णतया सन्तुष्ट रहेगा।

इस दृष्टिकोण से जीवनमुक्त और भक्त में कोई अन्तर नहीं होता है। वे दोनों ही अहंकार, त्रिगुणात्मक प्रकृति और वर्णाश्रम धर्म से परे हो जाते हैं। ऐसों के हृदय संसार के कल्याण की प्रेरणा और दयालुता की भावना से पूर्ण रहते हैं। यह उनका ब्रह्मानंद होता है जो उन्हें इस प्रकार के कार्यों के लिए प्रेरित करता रहता है। ऐसे भक्तों की कोई इच्छा नहीं होगी क्योंकि इच्छायें

तो 'मैं और मेरे' की भावना से उत्पन्न होती हैं। उनके समूल नष्ट हो जाने पर ही कोई भक्त कहलाने के योग्य हो पाता है, है न यही बात? इसीलिए उसके हृदय में इच्छा के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता है। वह तो अमृत स्वरूप भक्त है उसमें आनन्द की मधुरता के अतिरिक्त अन्य कुछ भी पाने की भूख नहीं रह जाती है।